*Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education*
*Vol. XIV, Issue No. 2, January-2018, ISSN 2230-7540*

# मीडिया, साहित्य और बाजार

**Dr. Rajendra Singh***

Associate Professor, Department of Hindi, Government Arts College, Sikar, Rajasthan

***शोध संक्षेपः साहित्य, समाज और मीडिया के अन्तर्संबंध का आधार मानवीय मूल्य है। बाजारवाद के दबाव ने इस संबंध पर चोट की है। पत्रकारों व साहित्यकारों से मीडिया को समाज में जागरूकता पैदा करने के साधान के रूप में देखा व समझा जाता है। युगीन समस्याओं, आशाओं, आकांक्षाओं का चिंतन एवं मनन के रूप में पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ अभिव्यक्त करने की अपेक्षा की जाती है। आज साहित्यकार-पत्रकार इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बूम में हाशिए पर हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति के इस भयावह दौर में तर्क विस्थापित और निर्बुद्धिपरकता हावी है। बाजार में भोगवाद और संस्कृति में अनुभववाद सब कुछ बन गए हं। यहां प्रश्न यह है कि बाजार और विशिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक अस्मिता के लिए मीडिया के जो नए वृत बन रहे हैं, उसमें साहित्य की भूमिका क्या है? हिंदी मीडिया के साहित्यविहीन होत जाने का एक कारण भाषायी भी है। न्यू मीडिया में हिंग्रेजी के प्रति पनप रह अतिशय प्रेम भी साहित्य को पत्रकारिता से दूर करने में अहम भूमिका अदा कर रहा है। सरकारी एवं कॉर्पोरेट नियंत्रित मीडिया के कंटेंट से सामाजिक सरोकारों के सवाल जुदा है। अस्तित्व, अधिकार, अस्मिता, स्वाधीनता, स्वावलम्बन, समानता आदि से जुड़े प्रश्नों के लिए मीडिया और साहित्यकारों को मानवीय मूल्यों से युक्त प्रासंगिक लेखन कर मनुष्यता के पक्ष में खड़ा होना पडेगा।***

***मुख्य शब्दः समकालीन, बाजारवाद, सरोकार, प्रतिबद्धता, वैश्वीकरण अस्मिता, नियमन, पूंजीवाद, अभिजात वर्ग, आचरण संहिता, उपादान, हिंग्लीश, वैश्विक विमर्श, बौद्धिक नवाचार, अंतर्संबंध, क्रिएटिव, भविष्यसृष्टा और मनुष्यता।***

----------X----------

मीडिया आज समाज की एक बड़ी शक्ति के रूप में उभर रहा है। साहित्य, समाज एवं मीडिया की कड़ी मानवीय मूल्य है। समकालीन हिन्दी मीडिया बाजारवाद के दवाब से अपने मूल्यों से हटता जा रहा है। बाजार में बने रहने के लिए प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों ही सनसनीवाद के शिकार होकर बौराए घोड़े की भांति दौड़ रहे हैं। ऐसे में मीडिया से साहित्य लगभग गायब सा है। एक जमाना था जब ज्यादातर पत्रकार साहित्यकार तथा साहित्यकार पत्रकार हुआ करते थे। वह दौर अब अतीत की मधुर स्मृति बन गया। जब पत्रकारिता में प्रवेश की पहली शर्त ही साहित्य के प्रति रूझान होना थी। स्वतंत्रता से पूर्व के इतिवृत में माधवराव सप्रे, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे पत्रकार साहित्यकार देखने को मिलते हैं। स्वतंत्रता पश्चात मुक्तिबोध, परसाई जैसे साहित्यकारों के मीडिया से गहरे सरोकार रहे हैं। इसी प्रकार अज्ञेय, धर्मवीर भारती, सर्वेष्वर दयाल सक्सेना, श्रीकांत वर्मा, कमलेष्वर, मनोहर श्याम जोशी आदि से लेकर कन्हैयालाल नन्दन तक अनेक लेखक पत्रकारिता और साहित्य के मध्य सेतुबंध की तरह रहे हैं। ऐसे साहित्यकारों का मीडिया से सरोकार बने रहने के कारण ही मीडिया में साहित्य को स्थान मिलता था। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान और दिनमान की बात न कर रोजमर्रा की हलचलों से जुड़े उस समय के सामान्य दैनिक समाचार पत्र को भी देखें तो उस समय भी साहित्य केन्द्र में दिखाई देगा। मगर पिछले कई वर्षों से साहित्य और मीडिया में आई दरार लगातार बढ़ती जा रही है। प्रिंट की दुनिया से साहित्य नदारद होता चला गया है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बूम में तो साहित्य के लिए कोई जगह ही नहीं बची है। बहाना चाहे न्यूज चैनल का हो मगर साहित्यकार-पत्रकार तो हाशिए पर चले ही गए है। पत्रकारों व साहित्यकारों से मीडिया को समाज में जागरूकता पैदा करने के साधन के रूप में देखा जाता है। युगीन समस्याओं, आशाओं और आकांक्षाओं को चिंतन एवं मनन के रूप में पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ अभिव्यक्त करने की अपेक्षा की जाती है। लोकतंत्र के चार स्तम्भों में पत्रकारिता एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है। अमेरिका के तीसरे राष्ट्रपति थॉमस जेफरसन ने कहा था- यदि मुझे कभी यह निष्चित करने के लिए कहा गया कि अखबार और सरकार में से किसी एक को चुनना है तो मैं बिना हिचक यही कहूंगा कि सरकार चाहे न हो, लेकिन अखबारों का अस्तित्व अवश्य रहे।

मीडिया और साहित्य दोनों में ही सत्ता की प्रतिध्वनि व्यंजित होती रही है। वैष्वीकरण के दौर में राजनीतिक सत्ता का विलय खासकर बाजार और संस्कृति में हो रहा है। किसी राजनीतिक

www.ignited.in

विचारधारा की जगह आज बाजार व संस्कृति के पास पावर अधिक है। जहां तर्क विस्थापित और निर्बुद्धिपरकता हावी है। उपभोक्ता संस्कृति के इस भयावह दौर में मीडिया में साहित्य की उपस्थिति लगभग एक बंद अध्याय हैं। बाजार में भोगवाद तथा संस्कृति में अनुभववाद सब कुछ है। एक तरफ विश्व बाजार तो दूसरी तरफ विशिष्ट सामाजिक अस्मिता व स्थानीयता लिए संस्कृतियां हैं। सवाल है, बाजार और विशिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक अस्मिता लिए मीडिया के जो नये वृत बन रहे हैं, उनमें साहित्य की भूमिका क्या है? सन् 1900 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका तथा इसी वर्ष पं. माधवराव सप्रे ने छत्तीसगढ़ से 'छत्तीसगढ़ मित्र' की शुरूआत की थी। इस काल को हिन्दी के नवजागरण का दूसरा काल कहा जा सकता है, जिसमें अनेक साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओं की शुरूआत हुई। जिसमें साहित्य की उपस्थिति अनिवार्य हुआ करती थी, लेकिन समय के साथ उस दौर की पत्रकारिता का भी साहित्य से मोहभंग होता चला गया। मुख्य धारा की गंभीर किस्म की पत्रिकाएं साहित्य-संस्कृति एवं समाज जागृति के कार्य को लेकर चलती रही और कुछ पत्रिकाएं अधकचरी समझ के साथ सनसनी फैलाने वाली और सुविधापरस्त हो चली। उस समय बाबूराव विष्णु प्रभाकर ने इस विचलन को देख समझकर लगभग आठ दशक पूर्व भविष्यवाणी की थी कि भविष्य के अखबार पहले से ज्यादा रंगीन और चमकदार होंगे, लेकिन उनमें आत्मा का अभाव होगा। उन अखबारों में महाप्राण संपादक नहीं रहेंगे, उनकी ये भविष्यवाणी सच साबित हुई। मीडिया के लिए अपनी अधकचरी सोच एवं हीनता के बोझ से दबे संपादक साहित्य को अछूत मानने लगे हैं। मीडिया मालिकों को अपने व्यावसायिक हितों के मध्यनजर मीडिया में साहित्य-संस्कृति की उपस्थिति या चर्चा नागवार लगती है। संपादक एवं मालिक बौद्धिकता से सरोकार नहीं रखते। यही कारण है कि औसत मीडियाकर्मी साहित्य से दूर भागता है। हिन्दी पत्रकारिता ने तो साहित्य, संस्कृति एवं विचार-विमर्श के अन्य क्षेत्रों की अनदेखी करके अपनी वैचारिक दयनीयता को हद तक बढ़ा लिया है। अपेक्षाकृत नवीन डिजिटल मीडिया ज्यादा वैचारिक माध्यम लगता है, लेकिन उससे भी अपेक्षित आशा नहीं बांधी जा सकती। प्रिंट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के तमाम अवगुण उसमें भी आते जा रहे हैं। बाजार उसे भी अपने षिंकजे में लेने के वहीं हथकंडे आजमा रहा है, जिन्हें आजमाकर उसने दूसरे माध्यमों को नियंत्रण में किया।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया हो चाहे, प्रिंट मीडिया, इनसे जुड़े लोग यह समझने का प्रयास नहीं कर रहे कि वे जो कुछ भी लिख रहे हैं, अंततः वह साहित्य ही तो है। पत्रकारिता को अल्पकालीन साहित्य तथा साहित्य को दीर्घकालीन पत्रकारिता कहें तो गलत नहीं होगा। साहित्य में साहित्यकार जिस तरह मानवीय संवेदनाओं और प्रवृतियों का विष्लेषण करता है उसी प्रकार पत्रकार भी घटना या रिपोर्टिंग करते समय सूचना के साथ-साथ मानवीय संवेदनाओं को अभिव्यक्ति दे रहा होता है। मीडिया से साहित्य की बहिष्कृति के लिए जिम्मेदार बाजारवाद है। पष्चिमी सोच वाली मीडिया मालिकों की नई पीढ़ी को एक उत्पाद की दृष्टि से देखती है। बाजारवाद के इस दौर में बाजार में शामिल व्यक्ति खरीददारी या बिक्री दोनों ही सूरतों में मुनाफे की ही सोचता है। भूमण्डलीकरण के इस काल में बाजार अल्पसंख्यक धनिकों के आधार पर ही चलता है। पूंजीवादी लोकतंत्र में मीडिया की स्वतंत्रता एक मिथक से ज्यादा कुछ नहीं रह गया है। मीडिया मालिक यह मानकर चलते हैं कि साहित्य के जरिए अखबार को कतई नहीं बेचा सकता। साहित्य के स्पेस में विज्ञापन से ज्यादा मुनाफा होगा। मीडिया चैनलों का प्राथमिक लक्ष्य ही मुनाफा कमाना रह गया है। उन्हें हर कीमत पर टीआरपी चाहिए। वे ऐसे किसी नियमन से अपने को बांधना नहीं चाहते, जिससे उनके कारोबारी लक्ष्य में बाधा पहुंचे। प्रेम, दया, रिष्ते-नाते सब मुनाफे की तराजू पर तौले जाते हैं। नकारात्मक चिंतन के कारण मीडिया में तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत, सेक्स, तरह-तरह की नग्नता, हिंसा-बलात्कार और घोषित अपराधी लोगों पर फ़ीचर प्रस्तुत किये जाते हैं। जबकि बड़े-बड़े साहित्यकारों की मृत्यु की खबर तक मीडिया में जगह नहीं पाती। रवीन्द्रनाथ त्यागी जैसे सुप्रसिद्ध व्यंगयकार की मृत्यु की खबर राष्ट्रीय समाचार-पत्रों में छपी तक नहीं थी। यह सब मीडिया द्वारा साहित्य से पूरी तरह मोह मोड़ लेने के कारण हो रहा है। भूमण्डलीकरण के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में समकालीन हिन्दी मीडिया की भाषा और उसके व्यवहार पर दृष्टि डाले तो अब जीवन मूल्यों की जगह केवल मोल-भाव के मूल्य ही नजर आते हैं। ग्लोबल पूंजीवाद की संस्कृति में स्वयं भाषा का ही अवमूल्यन हो चला है। नई पीढ़ी का शब्द भण्डार कुछ गंदी गालियों, अपने ही गढ़े चंद शब्दों और विज्ञापनों में आये कुछ फिकरों तक सीमित होता जा रहा है और वह अपने को अभिव्यक्त करने के लिए शब्दों से अधिक सहारा चिह्नों, भंगिमाओं और मुद्राओं का ले रही है। यह भाषागत मूढ़ता सांस्कृतिक मूढ़ता को बढ़ावा देती जा रही है। सच तो यह है कि नव पूंजीवादी मास मीडिया एक सोची समझी रणनीति के अन्तर्गत सारे मानव समाज को मूढ़ बनाने में जुटा हुआ है। नवपूंजीवाद को ऐसा मानव अभीष्ट है जिसमें सुरुचि और कुरुचि तथा श्रेष्ठ और निकृष्ट में तमीज कर सकने की क्षमता ही न हो, जो पूरी तरह वर्तमान जीवी और स्वार्थी हो और नवपूंजीवाद के स्वर में स्वर मिलाकर यह कह सकता हो कि लोभ में ही लाभ है।[1]

कभी बाजार को ध्यान में रखकर थोड़ा बहुत समझौता करने वाला मीडिया अब खुद एक बाजार बन चुका है। इसलिए अब उसे सनसनी परोसता बिकाऊ माल चाहिए, साहित्य ने। टीवी चैनलों में प्रसारित सीरियल में भाषा की शालीनता के अब कोई मायने नहीं रह गए हैं। अश्लीलता को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से जोड़ा जाने लगा है। साहित्यविहीनता के कारण मीडिया में संवेदनहीनता भी बढ़ी है। मीडिया में सेक्स से जुड़ा विषय मुख्य पृष्ठ पा जाता है, जबकि पुस्तक समीक्षा या साहित्य विमर्श एक कॉलम की जगह भी पाने में असमर्थ रहता है।

हालांकि ऐसा केवल हिन्दी क्षेत्र की मीडिया में ही देखा जा रहा है। अहिन्दी भाषी समाचार पत्रों में अभी भी साहित्य शेष है। अंग्रेजी या अन्य भाषा ही पत्र-पत्रिकाओं में आज भी पुस्तक समीक्षा के लिए पर्याप्त स्थान दिया जाता है। हिन्दी समाचार पत्रों की स्थिति पहले भी कोई ज्यादा ठीक नहीं थी। आज तो साहित्य के लिए स्पेस लगभग इतिहास की चीज बन गया है।

हिन्दी मीडिया के साहित्यविहीन होते जाने का एक बड़ा कारण भाषायी भी है। न्यू मीडिया में हिन्दी हाशिये पर है और उसकी जगह हिंग्लिश या हिंग्रेजी नामक एक नयी बाजारू भाषा को विस्थापित करने की साजिश की जा रही है। न्यू मीडिया में हिंग्रेजी के प्रति पनप रहे अतिशय प्रेम भी हिन्दी साहित्य को पत्रकारिता से दूर करने में अपनी भूमिका अदा कर रहा है। मीडिया बाजारीकरण के नये साम्राज्यवाद के कारण साहित्य से दूर होता जा रहा है। अभिजात वर्ग मीडिया को बाजार के हथियार के रूप में इस्तेमाल कर एक तरफ अपनी तिजोरी भर रहा है, तो दूसरी ओर सामान्यजन अपनी आजीविका के लिए तड़प रहा है। बाजार में आदमी की जाति, उसका मज़हब, उसका राष्ट्र, उसका सबकुछ बाजार है। बाजार अपने ढ़ंग से एकरूपता स्थापित करता है, जिसमें उसके लिए हर कोई एक सिर्फ उपभोक्ता है। मीडिया के राजनीतिक अर्थशास्त्र की मूल संरचना में पूँजीवादी व्यवस्था है जो एक खास तरह के मीडिया का निर्माण करती है, जिसमें ऐसे परिवेश को तैयार किया जाता है, जो आम आदमी के नाम पर खास आदमी की बात करे। ऐसी राजनीति खड़ी करे जिसमें निर्मम तरीके से निजीकरण, उदारीकरण और भूमण्डलीकरण को लागू करने का कटिबद्ध एजेण्डा रहे। देशी/विदेशी पूंजी जैसा चाहती है मीडिया नतमस्तक होकर उसी एजेण्डे पर चलता है। खासकर न्यूज चैनल कुछ जाने और कुछ अनजाने में इस अभियान के सबसे महत्वपूर्ण मंच, माध्यम और भोंपू बन गए हैं। आज पत्रकारिता गणेषंकर विद्यार्थी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के युग की तरह मिशन नहीं रह गई है; किन्तु व्यवसाय की भी अपनी आचरण संहिता होती है, कुछ नैतिक बंधन होते हैं, अपनी मर्यादाएं होती हैं। उन मर्यादाओं का पालन करके ही प्रेस और पत्रकार अपने गौरव एवं आत्मसम्मान की रक्षा कर सकते हैं। उनकी उपेक्षा करके वे तात्कालिक फायदा कितना भी उठा लें, किन्तु अंततः इससे उनकी साख को ही आंच आयेगी। उनकी विश्वसनीयता घटेगी। खबरों-जानकारियों और उनके तर्कसंगत विवेचन में विश्वसनीयता खोकर कोई भी पत्र-पत्रिका और पत्रकार अधिक समय तक टिक नहीं सकते, अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकते।[2]

भारतीय मीडिया मुनाफाखोरी की राह में उन समस्याओं को नजरअंदाज करके चल रहा है, जिसका सीधा सम्बन्ध देश की बहुसंख्यक आबादी से है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का एक वर्ग कॉर्पोरेट सेक्टर से संचालित है, उसके दिशा-निर्देशों और निवेश पर निर्भर रहता है। ऐसी स्थिति में उसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसके इशारों का पालन करना पड़ता है। सरकारी एवं कॉर्पोरेट नियंत्रित मीडिया कुछ विशेष विचारों को जोर-शोर के साथ प्रक्षेपित कर रहे हैं, जबकि दूसरे विचार जो सत्तासीन वर्ग को असुविधाजनक लगते हैं, उन्हें फिल्टर कर दिया जाता है। मजदूरों, किसानों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों, दलितों, स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों और उनके विरूद्ध संघर्षों से जुड़े विचार छांट दिए जाते हैं। मीडिया में विचार कम प्रचार ज्यादा होते हैं। जिससे दर्शकों के दिमाग कुन्द होते जाते हैं, उनके सोचने समझने का दायरा सीमित हो जाता है। लोगों के मानसिक विकास के लिए आवश्यक साहित्य, संस्कृति, कला और ग्लोबल व लोकल सरोकारों की बात करने वाले पत्रकारों व लेखकों को हाशिए पर फैंक दिया गया है। मनोरंजनवाद इस कद्र हावी हो गया है कि उसने पाठकों एवं दर्शकों के हाथ से चुनने की आजादी छीन ली है और साहित्य की बुनियादी लक्ष्य ही आजादी होता है। कहने को मीडिया को लोकतंत्र का प्रमुख स्तम्भ है तथा उससे अपेक्षा की जाती है कि प्रगतिशील विचार-विमर्श का मंच प्रदान करेगा, मगर स्थापित तथ्य यह है कि मीडिया व्यवस्था के स्ट्रक्चर का हिस्सा है। उसकी भूमिका भी उस बेस स्ट्रक्चर को सुरक्षा कवच प्रदान करना है। मीडिया के चरित्र में आई गिरावट के कारणों का विष्लेषण करते हुए पष्चिमी मीडिया विशेषज्ञ एवं समाजशास्त्री अकसर डम्बिंग डाऊन सिद्वान्त का जिक्र करते हैं। इनके अनुसार मीडिया का कंटेंट दर्शकों को गूंगा बनाता है।[3]

मीडिया ने साहित्य, संस्कृति, कला इत्यादि जीवन के अनिवार्य उपादानों को गैर जरूरी मानकर अश्लील, भोग विलास एवं मनोरंजक तड़के को ही अपनी जिजीविशा मान लिया है। नए-नए अखबार-मालिक-पुत्रों की दृष्टि भारतीयता के पारम्परिक बोध के अभाव में पत्रकारिता के लिए बाजार की ही जरूरत सबकुछ मान रही है। उनके लिए आचार या संस्कार गुजरे

www.ignited.in

जमाने की बात हो गयी है। समाचार पत्रों में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की तरह हिंग्लिश परोसी जा रही है। साहित्य की विभिन्न विधाओं, गंभीर आलोचनाओं, साहित्यिक आयोजनों की खबरों की बजाय स्थानीय एवं घरेलू स्तर के फैशन-शों व ऊलजलूल गतिविधियों के लिए पृष्ठ समर्पित कर दिए जाते हैं। अग्रलेख वाले पृष्ठों की साज-सज्जा तो सुधरी है पर छपने वाली सामग्री राजनीति के विमर्श पर केन्द्रित रहती है। साहित्यिक प्रसंगों पर कोई विमर्श नहीं होता। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया हो या प्रिंट, दोनों पर इकहरापन हद से ज्यादा हावी होता जा रहा है कि कोई भी घटना, विचार या दृश्य किसी संक्रामक रोग की तरह चारों तरफ फैलकर सर्वत्र वहीं दिखलाई देता है। आर्थिक राजनीतिक बदलाव से समाज की मनोदशा में गहरा अन्तर आया है। कभी दिल्ली की हिंदी पत्रकारिता, पत्रकारिता को दिशा प्रदान किया करती थी। उसका जनोन्मुखी आशाओं, संघर्षों, त्रासदियों आदि सामाजिक सरोकारों को पूरी शिद्दत और गतिशील अन्तर्दृष्टि के साथ प्रस्तुत करने का चरित्र था। लोग दिल्ली के समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं को पढ़कर साहत्यिक समझ विकसित किया करते थे। बाजारवाद के दबाओं के चलते अब परिदृश्य बदल चुका है, अब वे पत्र-पत्रिकाएं स्थानीय अखबार बनकर स्वयं दिशाहीन हो चुके हैं। उनकी देखा-देखी में हिन्दी का समकालीन मीडिया भी दिशाहीनता का शिकार बन गया है। अब मीडिया में वास्तविक मुद्दे महंगाई, स्वास्थ्य, शिक्षा जरूरतें, पुरातनपंथी परम्पराएं, ऑनर किलिंग, जातीय उत्पीड़न, धार्मिक कट्टरता, साहित्य पर कम कवरेज जबकि फिल्मी हस्तियां, जीवन-शैली, फैशन-परेड, पोप संगीत, डिस्को-डांस, ग्रह, नक्षत्र, शास्त्र, क्रिकेट, रियलिटी शो और हत्या, बलात्कार, सेक्स अथवा इसी तरह की समाज विरोधी आपराधिक गतिविधियों को ज्यादा कवरेज देने लगे हैं। दरअसल अब हिन्दी का संपादक भी वैसा संपादक नहीं रहा, जैसा पहले हुआ करता था। वह पाठकों के सामने उसका साहित्य व संस्कृति वाला चेहरा रखता है और पार्श्व में साहित्य विरोधी चेहरा रखता है। मीडिया में प्रबंधक और संपादक अपनी रुचियां परिष्कृत किए बगैर स्वयं को महान पत्रकार साबित करने की प्रायोजित कोशिशें करते रहते हैं। जिसकी परिणति स्वरूप मीडिया का साहित्यविहीन रूप सामने आ रहा है।

आज अंग्रेजी आर हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं के अधिकतर बड़े अखबार आज 'ऑनलाईन' हो चुके हैं तथा वर्तमान में सोशल मीडिया काफी तेजी से मीडिया जगत में अपना स्थान बना रहा है। विकिपीडिया के अनुसार "सोशल मीडिया लोगों के बीच सामाजिक विमर्श है।" "ऐसा इलेक्ट्रॉनिक माध्यम है जिसके जरिए लोग उक्त माध्यम में शामिल सदस्यों के साथ विचारों (तस्वीरों व वीडियो भी) का आदान-प्रदान कर सकते हैं।" तो कुल मिलाकर "सोशल मीडिया को परस्पर संवाद का वेब आधारित एक ऐसा अत्यधिक गतिशील मंच कहा जा सकता है जिसके माध्यम से लोग संवाद करते हैं। आपसी जानकारियों का आदान-प्रदान करते हैं और उपयोगकत्र्ता जनित सामग्री सृजन की सहयोगात्मक प्रक्रिया के एक अंश रूप में संशोधित करते हैं।[4] ऐसे समय में जब समकालीन हिन्दी पत्रकारिता बिकाऊ मीडिया के रूप में अपनी पहचान बना चुकी है। तब यह नया मीडिया बेहर कारगर हथियार के रूप में उभर कर सामने आ रहा है। ब्लॉग, फेसबुक, टिव्टर जैसे माध्यमों के द्वारा अब हर व्यक्ति के पास गोया उसका अपना अखबार है। जिसने अपनी साईट बना ली, तो वह सूचनाओं का शहंशाह बना गया। जिसके माध्यम से वह न केवल ख़बरें दे सकता है वरन महत्वपूर्ण घटनाओं पर अपनी टिप्पणियां भी देता है। अब तो छोटे-छोटे शहरों के समाचार-पत्र भी इंटरनेट पर उपलब्ध होते जा रहे हैं। इसके माध्यम से एक वैश्विक विमर्श की स्थिति बन रही है।[5]

मीडिया के बौद्धिक नवाचार के लिए साहित्य ही एक कारगर प्रकल्प सिद्ध हो सकता है। इसके लिए एक साझा अभियान की आवश्यकता है। मीडिया के पाठकों एवं दर्शकों तक साहित्यकार पहुंचे। इसके लिए वैसा रचनात्मक वातावरण तैयार करना होगा, जैसा स्वतंत्रता के संघर्ष काल में बनाया गया था और यह कार्य साहित्य के माध्यम से ही संभव हो रहा था। अब वैसा ही संक्रमण काल नजर आ रहा है। पुस्तकों एवं लेखों के माध्यम से समाज को अतीत की उन मधुर स्मृतियों से जोड़ना होगा। मीडिया को इस गलती का अहसास होना चाहिए कि साहित्य से काट कर समाज को जीवन्त नहीं रखा जा सकता। पाठक-दर्शक उस मीडिया का बहिष्कार करें, जिससे साहित्य, संस्कृति व जीवन-मूल्यों के लिए पर्याप्त स्पेस नहीं हो।

एक जमाना था जब साहित्य एवं कला की पत्रिकाएं घरों की शोभा बढ़ाया करती थी। समाज में तेजी से बढ़ रही धनी बनने की प्रवृत्ति से हर जगह बाजारवाद उफान मार रहा है। आज मीडिया बाजार में बुरी तरह समरस हो चुका है। उसको बाजार से बाहर निकाले वगैर न उसका और न ही साहित्य का भला हो सकता है। इसके लिए नवजागरण और चिंतन की पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ेगी, वरना तो जिस गति से मीडिया से साहित्य बहिष्कृत होता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं जब मीडिया और साहित्य में कोई अन्तर्संबंध ही नहीं रह जाएगा। अस्तित्व, अधिकार, अस्मिता, स्वाधीनता, स्वावलम्बन, समानता, सजगता एवं आर्थिक स्वतंत्रता के प्रश्न कहीं बेमानी न हो जावें। इसके लिए मीडिया को जनता से सिंथेटिक रूप से नहीं वरण क्रिएटिव रूप से जुड़ना पड़ेगा। अब समय आ गया है कि मीडिया और साहित्यकार आत्ममंथन कर भविष्यदृष्टा ही

www.ignited.in

नहीं भविष्यस्रष्टा बनकर भी मानवीय मूल्यों से युक्त प्रासंगिक लेखन कर मनुष्यता के पक्ष में खड़े हों।

## संदर्भ

1. संपादक-रामशरण जोशी; ग्लोबल गांव में सांस्कृतिक संकट, लेखक मनोहर श्याम जोशी, समकालीन सरोकार वैश्वीकरण के दौर में, पृ. 161-162।

2. गणेश मंत्री; चुनौतियों को संभावना में बदलना ही पत्रकारिता है, पत्रकारिता की चुनौतियां- पृ. 21।

3. मुकेश कुमार; (मिथिला) मीडिया में विचारों की कमी है, नया ज्ञानोदय, जुलाई, 2015 पृ. 127।

4. www.udayindia.in युवा, देश और सोशल मीडिया- रोहन पाल

5. गिरीश पंकज; न्यू मीडिया और चुनौतियां, मीडिया और भ्रष्टाचार, पृ. 15।

---

**Corresponding Author**

**Dr. Rajendra Singh***

Associate Professor, Department of Hindi, Government Arts College, Sikar, Rajasthan

sigarraj@gmail.com